श्रुतियोंमें सृष्टि-संदर्भ

[ऋग्वेदीय नासदीयसूक्त-परिशीलन]

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

पूर्वाम्नायपुरीपीठसे सम्बन्धित ऋग्वेदान्तर्गत दशम मण्डलका एक सौ उनतीसवाँ 'नासदीयसूक्त' है। इसमें सात मन्त्र (ऋचाएँ) हैं। इस सूक्तको सात संदर्भोंमें विभक्त किया जा सकता है। 'मायाशेषसंदर्भ' के अन्तर्गत प्रथम मन्त्रको, 'मायाश्रयस्वप्रकाश-परब्रह्मशेषसंदर्भ' के अन्तर्गत द्वितीय मन्त्रको, 'स्रष्टव्यपर्यालोचनसंदर्भ' के अन्तर्गत तृतीय मन्त्रको, 'सिसृक्षासंदर्भ' के अन्तर्गत चतुर्थ मन्त्रको, 'सर्गक्रम-दुर्लक्ष्यतासंदर्भ' के अन्तर्गत पञ्चम मन्त्रको, 'जगत्कारण-दुर्लक्ष्यतासंदर्भ' के अन्तर्गत षष्ठ मन्त्रको और 'दुर्धरदुर्विज्ञेयता-संदर्भ' के अन्तर्गत सप्तम मन्त्रको गुम्फित करना उपयुक्त है।

ध्यान रहे, नासदीयसूक्तमें विवक्षावशात् मायाको नौ नामोंसे अभिहित किया गया है—१-न सत्, २-न असत्, ३-स्वधा, ४-तमस्, ५-तुच्छ, ६-आभु, ७-असत्, ८-मनस् और ९-परमव्योम। परमात्माका मन मायारूप है। परमव्योमका अर्थ जहाँ सच्चिदानन्दरूप परमात्मा है, वहाँ **'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'** (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)-की शैलीमें अव्याकृतसंज्ञक माया भी है। कठरुद्रोपनिषद् (१०-११)-ने भी मायाको परमव्योम माना है—

संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञके॥
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते।
सोऽश्नुते सकलान् कामान् क्रमेणैव द्विजोत्तमः॥

नासदीयसूक्तमें विवक्षावशात् ब्रह्मको १-आनीदवात और २-अध्यक्ष—इन दो नामोंसे अभिहित किया गया है। जीवको १-रेतोधा और २-प्रयति (प्रयतिता)—इन दो नामोंसे अभिहित किया गया है। जगत्को १-स्वधा, २-सत्, ३-विसर्जन और ४-विसृष्टि—इन चार नामोंसे अभिहित किया गया है।

नासदीयसूक्तके प्रथम मन्त्रमें कहा गया है कि महाप्रलयमें शशशृङ्गादि-तुल्य निरुपाख्य 'असत्' नहीं था, न आत्मा और आकाशादि-तुल्य निर्वाच्य (निरूपण करने योग्य) सत् ही था। उस समय शशशृङ्गादि-तुल्य असत् ही होता तो उससे अर्थ-क्रियाकारी आकाशादिकी उत्पत्ति ही कहाँ सम्भव होती? उस समय यदि सर्गदशाके तुल्य आकाशादिकी विद्यमानता ही होती तो महाप्रलयकी प्राप्ति ही कहाँ होती? परिशेषसे यही सिद्ध होता है कि सत् और असत् तथा इनसे विलक्षण रजोरूप कार्यप्रपञ्चसे विरहित स्वाश्रयसापेक्ष स्वाश्रयभावापन्न अनिर्वचनीया माया ही महाप्रलयमें शेष थी। उस समय रजःसंज्ञक लोक नहीं थे। अभिप्राय यह है कि महाप्रलयमें चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड नहीं था। क्या आवरक (आवारक, आच्छादक) था? नहीं। जब आवर्य (आवरणका विषय, आवरण करने योग्य) ही कुछ नहीं था, तब आवरक कहाँसे होता! वह देश भी तो नहीं था, जिसमें स्थित होकर आवरक आवर्यका आवरण करता। अभिप्राय यह है कि आवरकको आवरण करनेके लिये आश्रय देनेवाला देश भी उस समय नहीं था, जिसमें स्थिति-लाभ करके वह आवर्यको आवृत करता। किस भोक्ता जीवके सुख-दुःख साक्षात्काररूप भोगके निमित्त वह आवरक आवर्यका आवरण करता? उस समय भोक्ता जीव भी तो देहेन्द्रिय प्राणान्तःकरणरूप उपाधिसे विरहित ईश्वरभावापन्न होकर ही अवशिष्ट था। क्या दुष्प्रवेश और अत्यन्त अगाध जल था? नहीं। जल तो केवल अवान्तर-प्रलयमें ही रहता है। महाप्रलयमें उसका रहना सम्भव नहीं। आवर्य चतुर्दशभुवनगर्भ ब्रह्माण्डके तुल्य आवरक पृथिव्यादि महत्तत्त्वपर्यन्त उपादानात्मक तत्त्व भी कार्यकोटिके होनेसे महाप्रलयमें ब्रह्माधिष्ठिता मायारूपसे ही अवशिष्ट रहते हैं। आभूषणरूप आवर्यके न रहनेपर भी सुवर्णरूप आवरक शेष रहता है; परंतु महाप्रलयमें कोई भी आवरक शेष नहीं रहता। **'तमसा गूळ्हमग्रे', 'तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्'** इस वक्ष्यमाण वचनके अनुसार बीजमें संनिहित अङ्कुरादिको बीजसे समावृत करनेके तुल्य असत्कल्प तमस्‌में संनिहित जगत्को तमस्‌से समावृत कहा गया है। कार्यकी अपेक्षा कारणमें निर्विशेषता, सूक्ष्मता, शुद्धता, विभुता और प्रत्यग्रूपता होती है। यही कारण है कि कार्य आवर्य और कारण आवरक बन जाता है। कारणके बोधमें प्रतिबन्धक होनेसे कार्य आवरक माना जाता है; जैसे कि मृद्घट मृत्तिका-दर्शनमें प्रतिबन्धक होनेसे आच्छादक मान्य है। कारण कार्यमें अनुगत होनेसे आच्छादक मान्य है; जैसे कि मृत्तिका अपनी अनुगतिसे घटादिकी आच्छादिका मान्य है।

शास्त्रोंमें चार प्रकारका प्रलय मान्य है—(१) नित्य,

(२) नैमित्तिक, (३) प्राकृतिक और (४) आत्यन्तिक। सावयव कार्यात्मक देहादिका प्रतिक्षण परिवर्तन 'नित्य-प्रलय' है। ब्रह्माजीकी निद्राके निमित्त 'भूः' आदि लोकत्रयका प्रलय 'नैमित्तिक' प्रलय है। चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डसहित भुवनोपादान पृथिव्यादि तत्त्वोंका प्रकृतिमें लय 'प्राकृतप्रलय' है तथा ब्रह्मात्मविज्ञानके अमोघ प्रभावसे अविद्या और उसके कार्यवर्गका छेदन कर जीवका स्वरूपावस्थान 'आत्यन्तिक प्रलय' है। सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्माजीका एक दिन होता है। दिनके तुल्य ही उनकी रात्रि होती है। तीन सौ साठ दिनोंका (दिन-रातका) एक वर्ष होता है। सौ वर्षोंकी ब्रह्माजीकी पूर्णायु होती है। उसीको 'परार्ध' कहते हैं। ब्रह्माजीकी आयु पूर्ण होते ही पञ्चभूतात्मक जगत् मायामें लीन हो जाता है। ब्रह्माजी भी मायामें लीन होते हैं। ब्रह्माजीके तुल्य ही रुद्रादि मूर्तियाँ भी मायामें लीन होती हैं। उत्तरसर्गमें हेतुभूता प्रकृतिसंज्ञक माया महाप्रलयमें सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मादिसंज्ञक परमेश्वरमें अभेदरूपमें स्थितिलाभ करती है।

द्वितीय मन्त्रमें कहा गया है कि उस प्रतिहारके समय (महाप्रलय)-में प्रतिहर्ता (संहर्ता) मृत्यु नहीं था और न मृत्युके अभावसे सिद्ध—अमरस्वभाव कोई प्राणी ही था। रात्रि-दिवस और इनसे उपलक्षित मास, ऋतु, संवत्सर प्रभृति सर्वकाल और काल-कालके न रहनेसे 'मृत्यु नहीं था' यह कथन सर्वथा चरितार्थ ही है। अभिप्राय यह है कि दाहतुल्य संहार्य भोग्य और भोक्तृ-प्रपञ्चका दाहतुल्य मृत्युसंज्ञक संहार हो जानेपर दाहकतुल्य अमृतसंज्ञक संहारक महाकाल भी महाप्रलयमें शेष नहीं रहता। अथवा सर्वसंहारक मृत्युसंज्ञक काल और ज्ञानमय अमृतसंज्ञक जीव शिवतादात्म्यापन्न होकर स्थित रहता है। कार्यप्रपञ्चका उपादानात्मक लयस्थित महाकारण माया भी वक्ष्यमाण मायाश्रय महेश्वरसे एकीभूत रहती है। मृत्यु अग्नितुल्य है। महाप्रलय उत्तरसर्गकी अपेक्षा मृत्युकी अभिव्यक्तिकी पूर्वावस्था है। पूर्वसर्गकी अपेक्षा वह मृत्युके ध्वंसकी उत्तरावस्था है। अग्निकी अभिव्यक्तिके पूर्व और अग्निके ध्वंसके पश्चात् अग्निका असत्त्व दृष्टान्त है। इस कथनके पीछे दार्शनिकता यह है कि भोगका हेतु कर्म है। फलोन्मुख परिपक्व कर्माधीन ही भोग है। बिना कर्मके भोग असम्भव है। निरपेक्ष अमृत ब्रह्म और ब्रह्माधिष्ठिता माया है। महाप्रलयमें उसका अस्तित्व ही श्रुतिका प्रतिपाद्य है। अतएव निरपेक्ष अमृतका प्रतिषेध अप्राप्त है। सापेक्ष अमृत-प्रलयमें अवशिष्ट महः, जनः, तपः और सत्यम्-संज्ञक परमेष्ठिलोक, परमेष्ठिदेह और परमेष्ठिपद है, उसीका प्रतिषेध यहाँ विवक्षित है। व्यष्टि-समष्टि सूक्ष्म और कारण शरीरपर्यन्त जीवभाव है। महाप्रलयमें मायारूपी महाकारणमें सूक्ष्म और कारणप्रपञ्चका विलय हो जानेके कारण जीवसंज्ञक अमृतका प्रतिषेध महाप्रलयमें उपयुक्त ही है। ब्रह्माधिष्ठिता मलिनसत्त्वगुणप्रधाना प्रकृति निमित्तकारण और तमःप्रधाना प्रकृति उपादानकारण है। मलिनसत्त्वप्रधाना और तमःप्रधाना प्रकृतिका लयस्थान त्रिगुणमयी गुणसाम्या माया महाकारण है। ब्रह्माधिष्ठिता माया महाप्रलयमें शेष रहती है। अभिप्राय यह है कि कालातीत महामाया ही कालगर्भित पृथिव्यादिके प्रतिषेधका अवच्छेदक अर्थात् उपादानरूपसे अवशिष्ट रहती है। परमात्मामें मुख्य ईक्षण भी विशुद्धसत्त्वात्मिका मायाके योगसे ही सम्भव है। अतएव ब्रह्माधिष्ठिता माया जगत्का निमित्तकारण भी हो सकती है। इस प्रकार ब्रह्ममें अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व जिस मायाके आध्यात्मिक संयोगसे है, वही महाप्रलयमें कालगर्भित पृथिव्यादिके प्रतिषेधका अवच्छेदक हो सकती है अथवा **'तदानीम्'** आदि कालवाचक पदोंकी सार्थकता भी मायोपहित ब्रह्मकी कालरूपताके कारण सम्भव है। जब भोग्य और भोगप्रद काल नहीं था तथा भोक्ता-कर्ता भी नहीं था, तब कौन था? क्या शून्य ही तो नहीं था? नहीं। सम्पूर्ण प्राणिसमूहको आत्मसात् किये स्वयं बिना वायु (प्राण)-के ही वह प्राणका भी प्राण प्राणनकर्ता परब्रह्म प्रतिष्ठित था। ऐसा भी नहीं कि मायासंयुक्त होनेपर भी शुद्धब्रह्मकी महाप्रलयमें असम्भावना सांख्यसम्मत प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका स्वतन्त्रा मायाको ही सिद्ध करती है। वस्तुस्थिति यह है कि नित्यता, असंगता और अद्वितीयताको न त्यागे हुए अर्थात् साधे हुए ही स्वनिष्ठ (जलनिष्ठ) शैत्यको आत्मसात् किये सलिल (जल)-के तुल्य वह परब्रह्म मायाको आत्मसात् किये अर्थात् सर्वथा एकीभूत किये स्थित था। स्थूणानिखननन्यायसे इस तथ्यकी परिपुष्टि की जाती है। निःसंदेह उस परब्रह्मसे पर कुछ भी नहीं था। सर्गकालिक द्वैत उस समय नहीं था। द्वैतबीज मायाको परब्रह्म अपनेमें अध्यस्त बनाये—आत्मसात् किये हुए था। जब भूत-भौतिक माया भी परब्रह्ममें अध्यस्त ही थी, तब किसको लेकर द्वैत होता? महाप्रलयमें

ब्रह्मसे तादात्म्यापन्न या अविभागापन्न होकर ही स्वधासंज्ञक माया विद्यमान थी। ब्रह्माश्रिता माया वृक्षाश्रित अमरबेलके तुल्य ब्रह्माण्डपुष्पोत्पादिनी विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न स्वतन्त्र सत्ताशून्य होती हुई ही विद्यमान थी। वह ब्रह्मसे पृथक् गणनाके योग्य नहीं थी। सर्वथा शक्तिमात्रकी पृथक् गणना सम्भव भी नहीं। शक्तिकार्य उस समय था नहीं, ऐसी स्थितिमें मायासहित सत्-तत्त्व सद्वितीय हो, ऐसा सम्भव नहीं।

इस प्रकार अनिर्वचनीया मायाके योगसे भी ब्रह्म वस्तुतः '**आनीदवात**' अर्थात् स्वतन्त्र सत् सिद्ध होता है। ब्रह्मके योगसे माया सत् अर्थात् निर्वाच्य नहीं होती, इसलिये '**नो सदासीत्**' यह पूर्वोक्ति चरितार्थ होती है। वायुके योगसे जैसे आकाश चञ्चल नहीं होता और आकाशके योगसे वायु स्थिर नहीं होती, अग्निके योगसे वायु मूर्त नहीं होती और वायुके योगसे अग्नि अमूर्त (अरूप) नहीं होता, रज्जुसर्पके योगसे रज्जुतत्त्व अनिर्वाच्य नहीं होता और रज्जुयोगसे रज्जुसर्प अबाध्य नहीं होता, वैसे ही मायाके योगसे ब्रह्म अनिर्वाच्य (मिथ्या) नहीं होता और ब्रह्मके योगसे माया सत् नहीं होती।

माया दृश्य है। कार्य और कारण दोनोंके लिये प्रसंगानुसार माया शब्दका प्रयोग विहित है। '**माया ह्येषा मया सृष्टा**' (महाभारत, शान्तिपर्व ३३९। ४५)-की उक्तिसे कार्यकोटिकी मायाका प्रतिपादन किया गया है। '**मायां तु प्रकृतिं विद्यात्**' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। १०)-की उक्तिसे कारणकोटिकी मायाका प्रतिपादन किया गया है। कार्यकोटिकी मायाका प्रतिषेध प्रलयदशामें अभीष्ट होनेसे कारणभूता मूल मायाके अतिरिक्त कोई भी दृश्यरूप कार्यात्मक प्रपञ्च नहीं था।

तृतीय मन्त्रमें कहा गया है कि सृष्टिके पूर्व महाप्रलयमें कार्यात्मक प्रपञ्चरूप जगत् अनिर्वचनीया मायासंज्ञक भावरूप अज्ञानान्धकारसे एकीभूत था। यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे संगत अतएव अविभागापन्न अजायमान था। क्षीरसे एकीभूत नीरके तुल्य ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृतिसे एकीभूत कार्यात्मक प्रपञ्च दुर्विज्ञेय था। तमोभूत असत्कल्प अपने उपादानकारणसे समावृत और उससे सर्वथा एकीभूत जो कार्यात्मक प्रपञ्च था, वह स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप परमेश्वरके तपके अद्भुत माहात्म्यसे उत्पन्न हुआ।

सृष्टिके पूर्व तमस् ही था। जगत्कारण तमस्से नाम-रूपात्मक प्रपञ्च ढका था। जैसे रात्रिका अन्धकार सब पदार्थोंको ढक लेता है, वैसे ही उस तमस्ने सबको अपने अंदर गूढ कर रखा था। व्यवहारदशाके समान महाप्रलयदशामें आवरक तमोरूप कर्ता और आवर्य जगद्रूप कर्मकी स्पष्ट पृथक्ता ज्ञात नहीं थी। यह सम्पूर्ण जगत् सलिल अर्थात् कारणसे संगत—पूर्णरूपसे अविभागापन्न था अथवा दुग्धमिश्रित जलतुल्य पृथक् विज्ञानका विषय नहीं था। वह क्षीरतुल्य तमस् यद्यपि नीरतुल्य जगत्से प्रबल-सा सिद्ध होता है; परंतु विचारकोंकी दृष्टिमें तुच्छ अर्थात् अनिर्वचनीय ही है। केवल आवरण करनेका ही इसका स्वभाव है। कालक्रमसे लीन प्रपञ्चको प्रादुर्भूत न होने देनेका स्वभाव नहीं है; फिर तमस् प्रबल हो तब भी परमेश्वरके स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तपके अमोघ प्रभावसे तमस्से समावृत और एकीभूत विविध विचित्रताओंसे भरपूर प्रपञ्चका भी यथापूर्व व्यक्त हो जाना सम्भव है। आच्छादकका ही सर्गदशामें आच्छादन हो जाना और प्रलयदशामें लयस्थान हो जाना—परमेश्वरके अमोघ माहात्म्यका द्योतक है। जिन पदार्थोंका प्रलयमें निषेध किया गया है, वे ही पदार्थ सर्गकालमें परमात्मासे अधिष्ठित मायासे अभिव्यक्त होते हैं। उन पदार्थोंको परिपूर्ण प्रकाशरूप परमात्माने स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तपसे रचा। परमात्माने मानस यथार्थसंकल्परूप ऋत, वाचिक यथार्थ भाषणरूप सत्य तथा इनसे उपलक्षित धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहादि शास्त्रीय धर्मोंको रचा। इसी प्रकार उसने रात्रि, दिन और जलसे भरपूर समुद्रोंको उत्पन्न किया। उसने संवत्सरोपलक्षित सर्वकाल उत्पन्न किया—'**सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। कला मुहूर्ताः काष्ठाश्च**' (तैत्तिरीयारण्यक १०। १। ८)। अहोरात्र (दिन-रात)-से उपलक्षित सर्वभूतोंको व्यक्त किया। उस विधाताने पूर्वकालके अनुरूप ही कालके ध्वजरूप सूर्य, चन्द्रको तथा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सुखरूप द्युलोकसंज्ञक त्रिभुवनसे उपलक्षित चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्डको रचा।

श्रुत्यन्तरमें '**न तमः**' कहकर तमस्का प्रतिषेध '**सत्**'-की विद्यमानतासे है अथवा तेज और तमस् दोनोंका प्रतिषेध प्राप्त होनेसे कार्यात्मक तमस्का प्रतिषेध है। '**सत्किञ्चिदवशिष्यते**' की उक्ति सत्की प्रधानतासे है—

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते।

(योगकुण्डल्युपनिषद् ३। २४-२५)

'प्रलयदशामें निश्चल, दुरवगाह, मनका भी अविषय,

चन्द्रादि अधिदैवसे भी अतीत, आवरक तमस्से सुदूर, अनभिव्यक्त, अनाख्य—निरुपाख्य (निरूपणका अविषय), शून्यसे सुदूर अशेषविशेषातीत व्यापक स्वप्रकाश सत् ही अवशिष्ट था।' कदाचित् **'न तमः'** की उक्तिसे मायाका ही प्रतिषेध मानें तो **'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'** (गीता १३। १७) —'वह ज्योतियोंका भी ज्योति है'-की शैलीमें ज्योतिका तथा **'तमसः परमुच्यते'** (गीता १३। १७)—'तमस्से पर कहा गया (जाता) है'-की शैलीमें अज्ञानरूप तमस्का प्रतिषेध मानना उपयुक्त है। **'सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिस्तमसः परमुच्यते', 'तमःशब्देनाविद्या'** (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ४। १)-में स्पष्ट ही तमस्का अर्थ अविद्या किया गया है।

उक्त वचनका अभिप्राय असत्कार्यवाद, असद्वाद, अनीश्वरवाद, परमाणुवाद, आरम्भवाद, परिणामवाद, जडवाद, क्षणिक विज्ञानवाद और खण्डप्रलयवादके व्यावर्तनसे है।

जैसे चैत्ररूप कर्ता और ग्रामरूप कर्म दोनोंकी सहस्थिति सम्भव होनेपर भी दोनोंका ऐक्य सम्भव नहीं, वैसे ही महाप्रलयमें आवरक तमस् और आवर्य जगत्की सहस्थिति सम्भव होनेपर भी दोनोंका ऐक्य सम्भव नहीं; तथापि आवर्य जगत्का उपादान होनेसे दोनोंका ऐक्य भी सम्भव है। यही कारण है कि स्निग्ध मृत्तिकामें और पिण्डावस्थामें संनिहित घटके सदृश जगत् प्रलयदशामें विशेषरूपसे ज्ञायमान नहीं होता। सृष्टि-प्रलयसंदर्भमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रपञ्चका उपादान कारण प्रकृति है। परमात्मा इसका अधिष्ठान है। इसको अभिव्यक्त करनेवाला काल है—

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २४। १९)

व्यवहार-दशाकी त्रिविधता वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मरूप परमेश्वरकी पालनप्रवृत्तिके अनुरूप जबतक ईक्षणशक्ति काम करती रहती है, तबतक जीवोंके कर्मोपभोगके लिये पिता-पुत्रादि कारण-कार्यरूपसे यह सृष्टि-चक्र निरन्तर चलता रहता है। महाप्रलयका योग समुपस्थित होनेपर सर्गक्रमके विपरीतक्रमसे पृथिव्यादि तत्त्व अपने कारणमें विलीन होते हैं। ज्ञानक्रियोभयशक्तिप्रधान कार्यात्मक महत्तत्त्व त्रिगुणके द्वारसे अव्यक्त प्रकृतिमें लीन होता है। प्रकृतिका क्षोभ कालाधीन है; अतः वह कालसे एकीभूतरूप लयको प्राप्त होती है। काल अपने चेतनज्ञानमय जीवमें तादात्म्यापत्तिरूप लयको प्राप्त होता है। जीव अपने शिवरूप-स्वरूप लयको प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि स्वरूप-विज्ञानके बिना ही प्रलयमें जीव शिवभावापन्न होकर विराजता है। परमात्माकी प्रपञ्चोन्मुखता ही उसकी जीवरूपता है। जीवकी सर्जनसंरक्षणादिके अनुरूप संकल्पमुखता ही उसकी कालरूपता है। यद्यपि परमात्माकी प्रपञ्चोन्मुखता और संकल्पमुखता अर्थात् ईक्षणोन्मुखता प्रकृतिसंज्ञक मायाके योगसे ही है; तथापि दर्पणसे अतिक्रान्त दर्पणादित्य-तुल्य और धूमसे अतिक्रान्त (अतीत) ज्वालातुल्य अप्रतिममहामहिमामण्डित महेश्वरकी जीवरूपता और कालरूपता मायासे अतिक्रान्त है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर **'न मृत्युरासीत्'** (ना०सू० २)-की उक्तिसे मृत्युसंज्ञक कालका महाप्रलयमें निषेध विवक्षित है। **'अमृतं न तर्हि'** (ना० सू० २)-की उक्तिसे अमृतसंज्ञक जीवका महाप्रलयमें निषेध विवक्षित है। जीवका लयस्थान शिवस्वरूप परमात्मा है। वह सबका परम और चरम मूल है। अतएव उसका लय नहीं होता।

चतुर्थ मन्त्रमें कहा गया है कि ईश्वरने सर्जनेच्छासे स्रष्टव्यपर्यालोचनरूप तप किया। सर्जनेच्छा ईश्वरके मायारूप मनमें हुई। अभिप्राय यह है कि अतीत कल्पमें अकृतार्थ जीवोंके मनसे सम्बन्धित और मनमें संनिहित जो भाविप्रपञ्चका हेतुभूत वासनात्मक कर्म था, उसीके उद्बुद्ध और फलोन्मुख होनेके कारण सर्गके आरम्भमें प्राणियोंको आत्मसात् किये महेश्वरके मायारूप मनमें पर्यालोचनरूप तपका भी मूल सिसृक्षारूप-काम उत्पन्न हुआ। **'तम आसीत्'** तथा **'असत्'** कहकर श्रुतिने भावरूप अव्याकृतात्मक अज्ञानको तथा **'कामस्तदग्रे समवर्तताधि'** कहकर कामको और **'रेतः प्रथमं यदासीत्'** कहकर कर्मको जगत्का मूल माना है। अभिप्राय यह है कि जगत् अविद्या तथा काम और कर्मके योगसे समुत्पन्न हुआ है। परमेश्वर जीवोंके अज्ञान, काम और कर्मोंके अनुरूप ही जगत्की रचना करते हैं। असत्, अव्यक्त, अव्याकृत, अविद्या, तम, प्रकृति, मायाकी एकरूपता **'असद्वा इदमग्र आसीत्'** (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ७), **'अविद्यामाहुरव्यक्तम्'** (महाभारत, शान्तिपर्व ३०७। २), **'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्'** (बृहदारण्यक० १। ४। ७), **'अविद्या प्रकृतिर्ज्ञेया'** (महा० शा० ४१ दा० पाठ), **'निरस्ताविद्यातमोमोहः'** (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् २), **'प्रकृतिर्माया** (गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् २। ३), **'अविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा'** (शाण्डिल्योपनिषद् ३। १) आदि वचनोंके अनुशीलनसे सिद्ध है।

पञ्चम मन्त्रमें कहा गया है कि जीवनिष्ठ अविद्या, काम और कर्म सृष्टिके हेतु हैं। अविद्योपादानक और कामकर्मनिमित्तक आकाशादि भूत और भौतिक पदार्थका सर्जन करते समय कार्यवर्ग सूर्यरश्मिसदृश शीघ्र विस्तार और प्रकाशको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार आर्द्र ईंधनके योगसे ज्वाला और धूम दो रूपोंमें अग्निकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे ज्वालाकी अग्निके अनुरूप अभिव्यक्ति होती है और धूमकी विरूप अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार काम और कर्मगर्भित अविद्याके योगसे परमात्माकी ही भोक्ता और भोग्य दो रूपोंमें अभिव्यक्ति होती है। भोक्ता भगवान्के अनुरूप अभिव्यक्ति है, भोग्य भगवान्के विरूप अभिव्यक्ति है। भोग्य अविद्याके अनुरूप अभिव्यक्ति है और भोक्ता अविद्याके विरूप अभिव्यक्ति है। भोक्ता अन्नाद है और भोग्य अन्न। कार्यकारणात्मक प्रपञ्च अन्न है और जीव अन्नाद। अन्न भोग्य है और जीव भोक्ता। अन्न शेष है और अन्नाद शेषी। शेषी जीवमें शेषकी दासता उपयुक्त नहीं।

षष्ठ मन्त्रमें कहा गया है कि यह विविध विचित्र भूत-भौतिक, भोक्तृ-भोग्यादिरूपा सृष्टि किस उपादान-कारणसे और निमित्तकारणसे प्रकट हुई है—इस तथ्यको परमार्थतः कौन जानता है? इस जगत्में उसका कौन प्रवचन कर सकता है? इस भूत-भौतिक प्रपञ्चके विसर्जनके बाद ही जब देवता, मन और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई, तब ये उस मूल तत्त्वको कैसे जान सकते हैं? सृष्टिका मूल तत्त्व दुर्विज्ञेय है। जो वस्तु जानी जाती है, वह तो दृश्य, जड तथा विकारी ही होती है। जिसका हम कारणरूपसे अनुमान करते हैं अथवा जिसे हम कारणरूपसे जानते हैं, वह सावयव-विकारी ही होता है; अतएव नश्वर होता है। ऐसी स्थितिमें कार्य-कारण-कल्पनाके प्रकाशक सर्वाधिष्ठान स्वयम्प्रकाश प्रत्यग्ब्रह्मको ज्ञानका विषय कैसे बनाया जा सकता है? नाम-रूपात्मक जगत् अनिर्वचनीय होनेसे निरूपणका विषय नहीं है। जगत्कारण अधिष्ठानात्मक-उपादान ब्रह्म शब्द प्रवृत्तिके हेतु जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध, रूढिरहित होनेसे अभिधा-वृत्तिसे शब्द-प्रवृत्तिका अविषय है। ऐसी स्थितिमें जगत् कितना है, कैसा है और इसका उपादान तथा निमित्तकारण कौन है—आदि तथ्योंको कौन विधिवत् जानता है? कौन इसे विधिवत् बता ही सकता है? घटादिके कर्तामें जो देहादिकी स्थिति है, वह ईश्वरमें सर्वतोभावेन चरितार्थ हो, ऐसा आवश्यक नहीं। व्याप्तिके बिना सामानाधिकरण्यमात्र असाधक ही होता है। ऐसा न मानें तो रसोईमें धूम-वह्नि (धूआँ और आग)-की व्याप्तिका ग्रहण करते समय व्यञ्जनादिमत्त्व भी परिलक्षित होता है; फिर तो पर्वतादिमें भी उनका (व्यञ्जनादिका) अनुमान होना चाहिये; परंतु ऐसा नहीं। अभिप्राय यह है कि रसोईघरमें धूम और अग्निके साहचर्य-सदृश पर्वतमें धूमाग्निका साहचर्य है, यह तो ठीक है; परंतु उससे निष्पन्न छप्पन भोग और छत्तीसों व्यञ्जनकी स्थिति पर्वतमें सिद्ध करना जैसे उपयुक्त नहीं, वैसे ही ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् कर्ताको कार्यके मूलमें स्थित सिद्ध करना तो उचित; परंतु उस कर्ताको देहादियुक्त अनुमित करना अनुचित। ऐसा न समझनेवाले विमोहित तो होते ही हैं। जब देवगण भी उस तत्त्वको नहीं जान सकते, तब मनुष्योंमें भला कौन जान सकता है? मनुष्योंके साथ तो अल्पज्ञता सर्वतोभावेन अनुविद्ध है।

सप्तम मन्त्रमें इस तथ्यका प्रकाश किया गया है कि जिस विवर्तोपादानकारणसे अर्थात् कल्पित कार्यके उपादानकारणसे इस विविध-विचित्र परस्पर-विपरीत (विलक्षण) सृष्टिका उदय हुआ है, वह भी इस सृष्टिको अपने स्वरूपमें धारण करता है या नहीं? अन्य कोई धारण कर ही कैसे सकता है? यदि धारण कर सकता है तो सर्वेश्वर ही। इस सृष्टिका जो अध्यक्ष परमेश्वर है, वह परमव्योममें रहता है। वह भी कहीं इसे जानता है या नहीं? देश-कालादि त्रिविध परिच्छेदशून्य परमात्मा सृष्टिके मूलकारण अपने-आपको जानता भी है अथवा नहीं? अथवा अपने अज्ञानकल्पित प्रपञ्चको वह जानता भी है या नहीं? **'यदि वा न वेद'** का अभिप्राय यह है कि जब स्वदृष्टिसे सृष्टि है ही नहीं, तब जानेगा किसको? अन्य कोई तो जाननेसे रहा!